ISSN: 2456–5474 RNI No.UPBIL/2016/68367 Vol.-5* Issue-6* July- 2020
Innovation The Research Concept

लोकनाट्य की ऐतिहासिकता : उद्‌भव एवं विकास

Historicity of Loknatya: Origin and Development

Paper Submission: 14/07/2020, Date of Acceptance: 26/07/2020, Date of Publication: 28/07/2020

शिवांगी श्रीमाली
सहायक आचार्य
संगीत विभाग,
जे.आर.एन.यू., एम.वी. श्रमजीवी
कॉलेज, उदयपुर,
राजस्थान, भारत

सारांश

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के बाद भी सोलहवीं शताब्दी तक नाट्यकला के सिद्धान्तों और अभिनय के संबध में बहुत साहित्य लिखा गया। किन्तु यह अनोखी और अद्‌भुत नाट्य परम्परा जो विश्व की प्राचीनतम परम्पराओं में से है, दसवीं शताब्दी तक धीरे–धीरे विघटित हो गई। इस परम्परा के अवशेष दक्षिणी राज्य केरल के मन्दिरों में प्रचलित 'कुडीअट्टम' प्रदर्शनों में आज तक पाये जाते हैं। संस्कृत रंगमंच के अनेक तत्व और परम्पराएँ देश के विभिन्न भागों में पारम्परिक नाट्यरूपों में आज भी मिलती हैं। स्वतन्त्रता के बाद भी संस्कृत नाटक मुम्बई, कोलकाता और चेन्नई में कुछ नाटक मण्डलियों द्वारा खेले जाते रहे हैं।

Even after the Natyashastra of Bharatamuni, till the sixteenth century much literature was written in relation to the principles of drama and acting. But this unique and amazing theatrical tradition, which is one of the oldest traditions in the world, gradually disintegrated by the tenth century. The remains of this tradition are found in the 'Kudiattam' demonstrations prevalent in the temples of the southern state of Kerala till date. Many elements and traditions of Sanskrit theater are still found in traditional theatrical forms in different parts of the country. Even after independence, Sanskrit dramas have been played by some drama circles in Mumbai, Kolkata and Chennai.

मुख्य शब्द : रंगमंच, प्रदर्शन, नाट्यशास्त्र, नाट्यकला, कठपुतली, मूकभिनय, लोकनाटक, लोकगीत, सामाजिक जीवन, पौराणिक गाथा, राजस्थान, लीलाएँ।

Theater, Performances, Natyashastra, Natyakala, Puppet, Mookabhinay, Loknatak, Folklore, Social Life, Mythological Saga, Rajasthan, Leelas.

प्रस्तावना

वेदाध्यात्मोपपन्नं तु शब्दछन्दः समन्वितम।
लोकसिद्ध भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावज्मं।।
तस्मात् नाट्य प्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते।

(26/113)

उन्होंने यहाँ तक कहा कि शास्त्र जो धर्म, जो शिल्प और जो क्रियाएँ लोकधर्म प्रवृत्त है, वे ही नाट्य कही जाती हैं –

यानि शस्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रिया।[1]
लोकधर्मप्रवृतानि तगनि नाट्यं प्रकीर्तितम्।।

स्पष्ट है कि 'नाट्यशास्त्र' से ही लोक तत्व का समावेश किया गया है। लोक प्रवृत्ति नाटक की सफलता की मुख्य कसौटी मानी गई है।

प्राचीन संस्कृत नाटक के उद्‌भव और विकास के बारे में कई तरह की मान्यताएँ हैं जिनमें से एक मान्यता नाट्यकाल की देवी उपपत्ति की है। इसका उल्लेख नाट्यशास्त्र में भी किया गया है। नाट्यकला के प्राचीन सिद्धान्त और परम्परा के बारे में नाट्यशास्त्र प्राचीनतम कृति है और इसका संकलन ईसा–पूर्व प्राचीनतम शताब्दियों के दौरान किया गया था। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा ने नाटकों की रचना की। ब्रह्मा ने चारों वेदों से संगीत, अभिनय और रस के तत्व लेकर नाट्यवेद की रचना की और इसे पाँचवाँ वेद कहा गया।

हो सकता है कि इस मान्यता से नाट्यकला के इतिहास पर कोई प्रकाश नहीं पड़े, किन्तु इससे हमें संस्कृत नाटक की प्रकृति के बारे में जानकारी अवश्य मिलती है और इससे यह संकेत मिलता है कि इसकी परम्परा बहुत पुरानी है।

ऋग्वेद में उच्च नाटकीय लक्षणों के साथ एकालापों और संवादों की उपस्थिति जैसे कि पुरूरवा और अप्सरा उर्वसी के बीच संवाद तथा आनुष्ठानिक कार्यो में सम्मिलित नाटके प्रारंभिक तत्वों से यह पता चलता है कि उस युग में नाटकों के प्रदर्शन प्रचलित थे।[2]

लोकधर्मी नाट्य

भारत की संस्कृति संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में शीर्षस्थ है। साहित्य, कला और विशेष रूप से नृत्य, गायन और अभिनय की तो यह भूमि प्राचीनतम केन्द्र–स्थली ही है। नाटक के पंचम वेद के उदय से भी पूर्व, यहां लोक–नाटक या लोकधर्मी नाट्य–परम्पराएँ अपना रूप ग्रहण कर चुकी थीं जिन्होंने नाटक के पंचम वेद की वेदी की निर्माण–शिला का का काम किया।

अभी तक हमारे देश की नाट्य–परम्परा के विकास का क्रमबद्ध इतिहास नहीं लिखा जा सका है, ऐसी दशा में लोक–नाटक या लोकधर्मी नाट्य–परम्पराओं के सम्बन्ध में अधिकारपूर्वक कुछ कहना और कठिन कार्य है क्योंकि लोक–नाटक जहाँ एक ओर अलिखित परम्परा की कड़ी होता है वहाँ लोकधर्मी नाटक की जड़ें भी प्राचीन लोक परम्परा की कड़ियों से निरंतर जुड़ी रहती हैं क्योंकि वह लोक–जीवन में गहरी आस्था रखने के साथ–साथ अपनी जन्मदात्री भूमि की भीनी गंध से सदा सुवासित बना रहता है। लोक–कला शास्त्रीयता की मुखापेक्षी नहीं होती, वह लोक–जीवन की गरिमा से अनुप्राणित होती है। किसी भूभाग पर विभिन्न कारणों से जो बाह्य या आन्तरिक प्रभाव समय की गति के साथ आते हैं वह लोकरंजनी कलाओं को भी अनुप्राणित व प्रभावित करते हैं और उन पर अपनी स्थायी छाप छोड़ जाते हैं जिन्हें समन्वयवाद में आस्थावान ये कलाएँ बिना हिचक के आत्मसात् करती हुई सदा बढ़ती रहती है। यही कारण है कि नाटक की लोक–जीवन से सम्बद्ध कोई परम्परा अपने ऊपरी ताने–बानें से चाहे कितनी भी नवीन लगे, परन्तु उसकी प्राणवायु परम्परा गत रजकणों से ही स्पंदन ग्रहण करती है। बिना अतीत में झाँके किसी भी लोक परम्परा को सही रूप में नहीं समझा जा सकता।[3]

यह भी मान्यता है कि नाटक की उत्पत्ति सांसारिक है। इन मतों के अनुसार लोकप्रिय/मूकाभिनय और कठपुतियाँ नाटक के आधार है। संस्कृत नाट्य परम्परा में कई गौण रूप हास्य, प्रहसन आदि जिनका एक पात्री रूप है, संभवतः गायकों, बहरूपियों, कथवाचकों और व्याख्यात्मक स्वरूपों से ही विकसित हुए हैं। हो सकता है कि शास्त्रीय नाटकों के विघटन के बाद इस परम्परा को और भी बल मिला हो और उनसे विभिन्न प्रदेशों में लोकनाट्यों के अनेक रूप विकसित हुए हों। प्रारंभ से ही भारतीय रंगमंच में दो परम्पराएँ रही हैं – शास्त्रीय और लोक परम्परा। नाट्यशास्त्र में दस प्रकार के नाटकों का उल्लेख है जिसमें नाटक, प्रकरण, नाटिका और प्रहसन महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत नाटक के क्षेत्र में कालिदास का नाम उतना ही उल्लेखनीय है जितना कि काव्य के क्षेत्र में। उनकी प्रसिद्ध कृति 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' ने जिनमें पुरूष–स्त्री संबंध तथा प्रेम का बड़े मार्मिक और लयात्मक ढंग से वर्णन किया गया है – विश्व स्तर पर प्रसिद्धि प्राप्त की है। वे हैं – विक्रमोर्वशीयम् और मालविकाग्निमित्रम्। कालिदास के नाट्य लेखन की परिपक्वता से उनके नाटकों के पूर्णतः विकसित संरचनात्मक स्वरूप और रूढ़ियों के सशक्त प्रयोगों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उनसे पहले काफी मात्रा में नाट्य लेखन अस्तित्व में रहा होगा जो अब अलभ्य है। उन्होंने स्वंय भी कुछेक नाटककारों का उल्लेख किया है जिन्होंने उनसे पहले नाटक लिखे थे। सन् 1912 में ऐसे एक साहित्यकार भास की नाट्य कृतियों का पता चला है।[4] भास की कृतियों का कथानक महाकाव्यों से लिया गया था, परन्तु उसके कुशल लेखन से इन कथानकों को मौलिकता व नयापन प्राप्त हुआ। उनकी विख्यात कृति ' स्वप्न– वासवदता' है। नाटककार भवभूति अपने नाटक 'उत्तररामचरित्रम्'' के लिए विख्यात है। जिसमें उन्होंने कारूण्य भाव को प्रस्तुत करने में उत्कृष्टता दिखाई है। शुद्रक द्वारा लिखित 'मृच्छकटिकम्' नाटक, प्रकरण (सामाजिक नाटक) का एक उत्तम उदाहरण है। सामाजिक जीवन को विविध रूप में प्रस्तुत करने और विविध चरित्रों को बड़ी संख्या में प्रस्तुत करने में 'मृच्छकटिकम्' संस्कृत नाटक के सम्पूर्ण इतिहास में बेजोड़ है। पश्चिम निर्देशकों और दर्शकगणों के बीच यह अत्यन्त लोकप्रिय रहा है और अनेक देशों में इसे अभिनीत किया गया है।

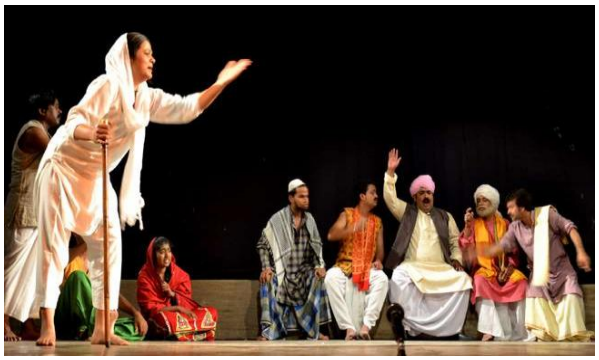

पारंपरिक नाटकों में कथानक

प्राचीन काल में ग्राम्य जीवन की बहुलता थी। ऐसे में लोगों कामुख्य व्यवसाय कृषि एवं पशुपालन था। कृषि कार्य से निवृत होने के बाद ईश्वर का नाम लेते थे और प्रकृति पर अगाध आस्था थी। ऐसे में स्वाभाविक हैं कि लोकानुरंजन में भी ईश्वर और प्रकृति के प्रति आस्था ही व्यक्त की हो। लोकनाट्यों, लोकगीतों और लोक नृत्यों में भगवान का धन्यवाद जताते हुए उन्हीं की गाथाओं की भरमार थी। आमतौर पर लोकनाट्यों के कथानक दो कहाकाव्यों और पुराणों से लिए जाते है। ये कथानक लोक नाटकों के लिए धार्मिक पुट के साथ साहसिक कथाएँ और उच्च कोटि के नाट्य बोध के साथ आदर्श कथा की सामग्री प्रस्तुत करते हैं जिनमें काव्य, संगीत और नृत्य की भरमार है। सभी प्रकार के लोक नाटकों में राम और कृष्ण की गाथाओं का इतना अधिक प्रयोग किया जाता है कि लोक नाटकों का आधे से अधिक भण्डार इन्हीं दोनों चरित्रों का है। पौराणिक गाथाओं और महाकाव्यों से लिए गए कथानकों के अतिरिक्त सभी देशों के नाटक प्रेमकथाओं पर आधारित हैं, खास तौर पर पश्चिमी देशों में लोगों के बीच मौखिक परम्परा मध्यकालीन गाथाओं, सामाजिक जीवन का स्थानीय और सामयिक घटनाओं, बलिदान और अत्याचारों की गाथाओं का ऐतिहासिक कथानकों में कथा–सामग्री के रूप में उपयोग किया जाता है।[5]

हम अपना पारम्परिक नाटकों का इतिहास पूर्वी क्षेत्र से प्रारंभ कर सकते हैं। इस क्षेत्र में प्रमुख रंगमंचीय स्वरूप को जात्रा अथवा यात्रा कहा जाता है। यह शैली भारत के असम, उड़ीसा, मणिपुर और पश्चिमी बंगाल राज्यों में प्रचलित है। संरचनात्मक दृष्टि से यद्यपि इन विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित यात्रा एक जैसी ही है, तथापि इसके प्रस्तुतिकरण की शैलियाँ और संगीत अलग–अलग हैं। शाब्दिक रूप से यात्रा का अर्थ जुलूस है और यह सम्भवतः रंगमंच का सबसे प्राचीन प्रचलित रूप है। मूल रूप से यात्रा एक धर्मिक समारोह था जो महत्त्वपूर्ण धार्मिक अवसरों पर मन्दिर उत्सवों के दौरान होता था। एक धार्मिक नाटक के रूप में शुरू होकर यात्रा अपनी गतिशील प्रकृति के कारण आज एक गद्य नाटक बन गई

है और इसका कथानक इहलौकिक होता है। यात्रा में अभिनय बहुत ही सशक्त और प्रभावशाली होता है तथा इसमें मुद्राएँ व क्रियाएँ बड़ी विस्तृत एवं तीक्ष्ण होती हैं। इन क्षेत्रों के लोगों के जीवन में यात्रा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसने साहित्यिक परम्परा के रंगमंच को भी बहुत प्रभावित किया है और उसे समृद्ध बनाया है।[6]

राजस्थान के पूर्वी आंचल में ख्याल सर्वत्र प्रचलित हुआ। भक्ति आंदोलन के समय ब्रजप्रदेशान्तर्गत मथुरा–वृन्दावन भक्ति के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। समस्त उत्तरी भारत के भक्ति आन्दोलन के साथ–साथ दक्षिण से चल कर ख्याल–गायकी भी ब्रजप्रदेश में आ गई। भक्ति ने काव्य और संगीत का साहचर्य प्राप्त किया और 'ख्याल' के प्रचार और प्रसार हेतु उचित स्थान प्राप्त हो गये। ब्रजप्रदेश से मुख्यतया भरतपुर, अलवर, वैर और करौली में ख्याल खूब जमा। प्रमुख नगरों में तो यह 'कलंगी–तुर्रा' के ख्याल की श्रेणी में समाहत हुआ लेकिन इनसे संलग्न गांवों में 'अली–ए–हो' की टेर से युक्त ख्याल जिसे बहुत कुछ इसकी गायन–प्रणाली के आधार पर 'हेला का ख्याल' कहा जाता है– प्रचलित हुआ। करौली क्षेत्र में ये दोनों प्रणालियां अपने प्रारम्भिक रूप से आज तक प्रचलित हैं।[7]

11वीं–12वीं शताब्दी को उनके विचार से नौटंकी का उदयकाल माना जा सकता है। उनके इस मत का आधार यह है कि संगीत की इस विद्या में पृथ्वीराज तथा उन्हीं के समकालीन आल्हा–ऊदल की वीरता की गाथाओं

की सर्वाधिक प्रचुरता है तथा नाथपंथी योगियों की चमत्कारिकता भी इस मंच के कथानकों में भरपूर हैं।'' परन्तु इस मंच पर उक्त कथाओं के साथ–साथ रामायण और महाभारत की कथाओं का भी महत्त्व कम नहीं है। ये कथाएँ इस मंच को प्राचीन लीला नाटकों की परम्परा से जोड़ देती हैं। ब्रज में अतीत में ऐसी बहुत सी मंडली थी जो पहले रासलीला (कृष्ण चरित) और बाद में नक्कारे की चोट पर स्वाँग करती थी। उधर यदि सांगीत परम्परा के नाट्य रूप पर ध्यान दें तो प्रतीत होता है कि नृत्य, गायन

और वादन से परिपूर्ण यह नाट्य विद्या जिसमें अतीत में गद्य–संवादों का कहीं कोई स्थान न था ईसा पूर्व की

रासक परम्परा से भी जुड़ी हुई है। जब इस मंच के विस्तृत कथा क्षेत्र पर विचार करते हैं तो लगता है कि लोकवार्ता के समग्र तत्वों का जैसा प्रतिनिधित्व सांगीत मंच पर हुआ है वैसा किसी भी अन्य नाट्य– विद्या में दुर्लभ है। इस देश के विभिन्न क्षेत्रों की गाथाएँ (जो इस मंच पर प्रदर्शित होती रही है) इस मंच को जहाँ भारतीय गाथा–गायन परम्परा तथा लोकवार्ता से जोड़ती है वहाँ उसके साथ ही ईरान, अफगानिस्तान आदि एशियाई देशों की ही नहीं रूम (रोम), स्पेन तथा पेरिस तक के कथानक सांगीत मंच के विषय बने है। यह इस मंच के व्यापक दृष्टिकोण तथा सांस्कृतिक धरातल पर विश्व बंधुत्व के आदर्श की स्थापना की भावना का प्रतीक तो है ही, साथ ही समग्र लोकगाथा परम्परा को भी इसने अपने में आत्मसात् किया है, यह तथ्य इन कथानकों के अध्ययन से भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है।

निष्कर्ष

अतः यह सांगीत विद्या प्राचीनतम भारतीय नाट्य–विधाओं, गाथा गायन परम्परा, लोकवार्ता तथा लीला–नाटकों से भी जुड़ी है। अतः आज यह कहना बड़ा कठिन है कि सांगीत परम्परा का मूल रूप क्या था और वर्तमान ''सांगीत परम्परा'' किसी प्राचीनतम परम्परागत नाट्य–विद्या का (विभिन्न कालों में ग्रहीत प्रभावों से प्रभावित) वर्तमान रूप है अथवा यह विभिन्न प्राचीन लोकधर्मी नाट्य–परम्पराओं के समन्वय द्वारा किन्हीं कुशल कलाकारों द्वारा खड़ा किया गया कोई मौलिक मध्यकालीन नाट्यरूप है। दुर्भाग्य से आवश्यक प्रमाणों और संदर्भो के अभाव में हमें इस सम्बन्ध में केवल प्राचीन अनुश्रुतियों, साहित्य में उपलब्ध इने–गिने प्रदर्शन सम्बन्धी उल्लेखों अथवा प्राचीन कवियों द्वारा अपनी प्राचीन रचनाओं में प्रयुक्त कुछ शब्दों (जैसे स्वाँग, साँग, भगत आदि) को ही आधार बनाकर इस सम्बन्ध में अँधेरे में टटोलना होगा।

भारतीय नाटको के समग्रे इतिहास की सर्वाधिक सृदृढ़ कड़ी हमारे यह लोकधर्मी नाटक ही है। इनकी उपेक्षा करके न तो भारतीय नाटक का आधुनिक रूप खड़ा किया जा सकता है और न बिना इसके अध्ययन के भारतीय रंगमंच का इतिहास ही पूरा किया जा सकता है।[8]

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *जोशी, ओम (2013), ''भारत के लोक नाट्य'', चौड़ा रास्ता, जयपुर, पृ. सं. 17*
2. *वही, पृ. सं. 18*
3. *अग्रवाल, रामनारायण (1976), ''सांगीत एक लोकनाट्य परम्परा'', राजपाल एंड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. सं. 13*
4. *जोशी, ओम (2013), ''भारत के लोक नाट्य'', चौड़ा रास्ता, जयपुर, पृ. सं. 19*
5. *वही, पृ. सं. 39*
6. *जोशी, ओम (2013), ''भारत के लोक नाट्य'', चौड़ा रास्ता, जयपुर, पृ. सं. 40*
7. *शर्मा, कल्याण प्रसाद (1972), ''करौली क्षेत्र का ख्याल साहित्य'', लोककला मंडल उदयपुर, पृ. सं. 25*
8. *अग्रवाल, रामनारायण (1976), ''सांगीत एक लोकनाट्य परम्परा'', कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ. सं. 14*